AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के बदलते स्वरूप और सामाजिक गतिशीलताः एक समकालीन विश्लेषण

ORIGINAL ARTICLE

Author
रामनरायण खुंटे
सहायक प्राध्यापक
समाज शास्त्र विभाग, अतिथि प्राध्यापक
शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय
रायगढ़, छत्तीसगढ़, भारत

शोध सार

यह शोध पत्र ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के परिवर्तनशील स्वरूप और सामाजिक गतिशीलता की जटिल अंतर्क्रियाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक रूप से दृढ़ जाति व्यवस्था आर्थिक उदारीकरण, शहरीकरण, शैक्षिक पहुँच और राजनीतिक सशक्तिकरण जैसे कारकों के प्रभाव में परिवर्तन से गुजर रही है। यह अध्ययन ग्रामीण क्षेत्रों में जातिगत पदानुक्रम के पुनर्गठन, नए सामाजिक संबंधों के उद्भव और सामाजिक गतिशीलता के अवसरों एवं बाधाओं की पड़ताल करता है। मिश्रित–विधि दृष्टिकोण के माध्यम से, यह शोध सामाजिक–आर्थिक संकेतकों, अंतर्जातीय संबंधों, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सांस्कृतिक पहचान के परिप्रेक्ष्य से परिवर्तनों का दस्तावेजीकरण करता है। निष्कर्ष बताते हैं कि जातीय स्तरीकरण का स्वरूप अब अधिक तरल और बहुआयामी हो गया है, जहाँ पारंपरिक पदानुक्रम नए सामाजिक वर्गों और आर्थिक शक्ति के साथ अंतर्ग्रथित हो रहे हैं, जिससे ग्रामीण समाज में गतिशीलता के नए मार्ग और चुनौतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

मुख्य शब्द

जातीय स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, ग्रामीण भारत, जाति व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक उदारीकरण.

परिचयः शोध का संदर्भ एवं उद्देश्य

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति एक आधारभूत और सर्वव्यापी संस्था के रूप में कार्य करती आई है, जिसने सदियों से सामाजिक स्तरीकरण, व्यवसायिक विभाजन और सामाजिक गतिशीलता के स्वरूपों को निर्धारित किया है। ऐतिहासिक रूप से ग्रामीण भारत जाति–आधारित पदानुक्रम का प्राथमिक केंद्र रहा है, जहाँ सामाजिक संबंध, आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक शक्ति का वितरण जातीय हैसियत से गहनता से जुड़ा हुआ था (Srinivas, 1955; Dumont, 1970)। हालाँकि, स्वतंत्रता के पश्चात् लोकतांत्रिक शासन, संवैधानिक प्रावधानों, आर्थिक सुधारों, शैक्षिक विस्तार और राजनीतिक जागरूकता ने इस परम्परागत व्यवस्था को चुनौती दी है। इन परिवर्तनकारी शक्तियों के परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में जातीय स्तरीकरण के स्वरूप जटिल और बहुआयामी हुए हैं, जिसमें नए प्रकार की सामाजिक गतिशीलता के अवसर उत्पन्न हुए हैं, साथ ही पुरानी बाधाएँ भी नवीन रूपों में बनी हुई हैं (Jodhka, 2012)।

इस संदर्भ में, यह शोध पत्र ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के बदलते स्वरूपों और सामाजिक गतिशीलता की समकालीन गतिशीलताओं का एक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। परम्परागत दृष्टिकोण अक्सर जाति को एक स्थिर और अपरिवर्तनीय व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते थे, किंतु समकालीन अध्ययन इसकी लचीलापन, अनुकूलन क्षमता और पुनर्गठन की प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं (Sharma, 1999)। आर्थिक विकास, बाजारीकरण, पलायन, भूमि–संबंधों में परिवर्तन और सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों ने ग्रामीण सामाजिक भूगोल को पुनः परिभाषित करने का कार्य किया है। उदाहरण के लिए, कुछ पिछड़ी जातियों (OBCs) ने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण उन्नति की है, जबकि परम्परागत रूप से प्रभुत्वशाली जातियों के एक वर्ग को हैसियत के नुकसान का सामना करना पड़ा है (Jeffrey, 2001)। इसी प्रकार, दलित समुदायों ने शैक्षिक और राजनीतिक अधिकारों के माध्यम से सशक्तिकरण के नए रास्ते तलाशे हैं, भले ही सामाजिक भेदभाव और हिंसा के मामले अभी भी बने हुए हैं (Shah et al., 2006)।

इस शोध का प्राथमिक उद्देश्य ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के परिवर्तनशील चरित्र की पड़ताल करना तथा सामाजिक गतिशीलता के नए प्रतिमानों की पहचान करना है। यह अध्ययन निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करेगाः स्वतंत्रता के बाद के भारत में किन प्रमुख सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों ने ग्रामीण जातीय पदानुक्रम को पुनर्गठित किया है? स्तरीकरण के परम्परागत आधारों (जैसे– व्यवसाय, शुद्धता की धारणा) के स्थान पर नए आधार (जैसे– आर्थिक पूँजी, राजनीतिक पहुँच) किस सीमा तक उभरे हैं? विभिन्न जातीय समूहों, विशेष रूप से अनुसूचित जाति/जनजाति एवं पिछड़ी जातियों, के लिए ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता के अवसरों की प्रकृति क्या है तथा इसमें आने वाली संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक बाधाएँ कौन–सी हैं? अंततः, यह विश्लेषण इस बात को समझने में योगदान देगा कि क्या ग्रामीण भारत में जातीय व्यवस्था वास्तव में कमजोर हो रही है अथवा वह नए रूपों में पुनःउत्पादित हो रही है (Deshpande, 2011)। इस प्रकार, यह शोध समकालीन ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना की जटिलताओं को समझने हेतु एक विश्लेषणात्मक ढाँचा प्रदान करेगा।

सैद्धांतिक ढाँचाः जाति, स्तरीकरण और गतिशीलता के सिद्धांत

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के बदलते स्वरूपों का विश्लेषण करने के लिए एक मजबूत सैद्धांतिक आधार आवश्यक है। यह खंड जाति, सामाजिक स्तरीकरण और गतिशीलता से संबंधित प्रमुख सिद्धांतों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो इस शोध के विश्लेषणात्मक लेंस का निर्माण करेंगे।

जाति को समझने की दिशा में प्रारंभिक सैद्धांतिक दृष्टिकोण इसे एक कठोर, पदानुक्रमित तथा धार्मिक रूप से स्वीकृत वर्ण व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं। घोरिए (Ghurye, 1932) ने जाति के छह प्रमुख लक्षणों विभाजन, पदानुक्रम, भोजन एवं सामाजिक संबंधों पर प्रतिबंध, व्यवसाय की निश्चितता, धार्मिक अयोग्यताएँ तथा विवाह पर प्रतिबंध की पहचान की, जो एक स्थैतिक संरचना का बोध कराते हैं। इसके विपरीत, एम. एन. श्रीनिवास (Srinivas, 1957) ने 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा प्रस्तुत कर जाति व्यवस्था में गतिशीलता की संभावना को रेखांकित किया। इस सिद्धांत के अनुसार, निम्न जातियाँ उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों के रीति–रिवाजों, आचार–विचारों एवं जीवनशैली को अपनाकर सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि का प्रयास करती हैं। यह अवधारणा ग्रामीण स्तरीकरण में परिवर्तन के एक प्रमुख तंत्र की ओर संकेत करती है।

सामाजिक स्तरीकरण के सामान्य सिद्धांत, जैसे कार्ल मार्क्स (Marx, 1867) का वर्ग–आधारित दृष्टिकोण तथा मैक्स वेबर (Weber, 1922) का जीवन–अवसर, प्रतिष्ठा और शक्ति को सम्मिलित करने वाला बहुआयामी मॉडल, भारतीय संदर्भ में जाति के साथ अंतर्क्रिया करते देखे गए हैं। भारतीय समाज में जाति और वर्ग अक्सर अंतर्गुंफित होते हैं, जहाँ ऐतिहासिक रूप से निम्न जातियाँ आर्थिक रूप से भी वंचित रही हैं (Desai & Dubey, 2012)। हालाँकि, आधुनिकीकरण एवं आर्थिक सुधारों के बाद इन दोनों के बीच का संबंध अधिक जटिल हो गया है।

समकालीन गतिशीलता को समझने में आंद्रे बेतेइये (Beteille, 1991) तथा दीपांकर गुप्ता (Gupta, 2000) के योगदान महत्वपूर्ण हैं। बेतेइये ने भारतीय समाज में 'बंद' जाति व्यवस्था एवं 'खुले' वर्ग व्यवस्था के सह–अस्तित्व पर बल दिया है। गुप्ता ने जाति की 'सत्ता के रूप में' तथा 'पहचान के रूप में' दोहरी भूमिका की ओर ध्यान आकर्षित

किया है। उनके अनुसार, जाति का पदानुक्रमिक पहलू (स्तरीकरण) कमजोर हो सकता है, लेकिन सामुदायिक पहचान एवं राजनीतिक गोलबंदी के रूप में इसका महत्व बना रहता है या बढ़ भी सकता है। इसी क्रम में, सुरिंदर एस. जोधका (Jodhka, 2015) ने ग्रामीण भारत में जाति के 'क्षय' एवं 'पुनर्निर्माण' की समवर्ती प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है, जहाँ पारंपरिक व्यवसायिक संबंध टूट रहे हैं, परंतु सामाजिक संबंधों एवं राजनीतिक चेतना में जाति एक प्रमुख आधार बनी हुई है।

इन सिद्धांतों का समन्वय हमें एक ऐसा द्वंद्वात्मक ढाँचा प्रदान करता है जो जाति की स्थायित्व एवं परिवर्तनशीलता दोनों को समझने में सहायक है। यह ढाँचा आगे के विश्लेषण में यह पड़ताल करने का आधार तैयार करेगा कि किस प्रकार ग्रामीण भारत में राजनीतिक जागरूकता, आर्थिक परिवर्तन, शहरीकरण तथा नीतिगत हस्तक्षेपों (जैसे आरक्षण) ने जातीय स्तरीकरण के पारंपरिक स्वरूप को पुनर्निर्मित किया है और नई प्रकार की सामाजिक गतिशीलताओं के मार्ग खोले या अवरुद्ध किए हैं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यः स्वतंत्रता पूर्व एवं पश्चात् जातीय व्यवस्था

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के समकालीन स्वरूप को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक विकासक्रम का विश्लेषण अनिवार्य है। स्वतंत्रता पूर्व की जातीय व्यवस्था मुख्यतः एक दृढ़, व्यावसायिकता पर आधारित और सामाजिक संबंधों में श्रेणीबद्धता से निर्मित एक पदानुक्रम थी। इसकी संरचना वर्णाश्रम व्यवस्था के सिद्धांतों से प्रभावित थी, किंतु व्यवहार में यह स्थानीय रूप से 'जाति' (जाटी) के रूप में संचालित होती थी, जहाँ व्यवसाय, विवाह और सामाजिक संपर्क कठोर नियमों से बंधे थे (Dumont, 1970)। ग्रामीण अर्थव्यवस्था जाति–आधारित श्रम विभाजन पर टिकी थी, जिसमें भू–स्वामित्व पर प्रायः उच्च जातियों का एकाधिकार था, जबकि निम्न जातियाँ भूमिहीन श्रम, शिल्पकारिता और श्अपवित्रश माने जाने वाले कार्यों में लगी थीं। इस व्यवस्था को सामाजिक दूरी, छुआछूत और धार्मिक वैधता का समर्थन प्राप्त था (Srinivas, 1955)। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इस व्यवस्था को और सुदृढ़ किया। जनगणना के माध्यम से जातियों का वर्गीकरण, भू–राजस्व व्यवस्था में स्थायी बंदोबस्त, तथा प्रशासन में 'जाति' को एक प्रमुख पहचान के रूप में स्थापित करने से सामाजिक सीमाएँ और अधिक कठोर हुईं (Dirks, 2001)। हालाँकि, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, शिक्षा और नौकरियों ने कुछ सीमित अवसर भी पैदा किए, जिससे शहरी केंद्रों में एक नए मध्यम वर्ग का उदय हुआ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्य ने जाति व्यवस्था के इस पारंपरिक ढाँचे को मौलिक चुनौती दी। संविधान ने छुआछूत का उन्मूलन (अनुच्छेद 17) किया और सामाजिक व शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए आरक्षण की व्यवस्था (अनुच्छेद 15, 16) की। इस कानूनी–संवैधानिक परिवर्तन का ग्रामीण क्षेत्रों में क्रमिक प्रभाव पड़ा। भूमि सुधार कानूनों का उद्देश्य भूस्वामित्व के जातिगत एकाधिकार को तोड़ना था, हालाँकि इनका कार्यान्वयन असमान रहा (Jodhka, 2015)। लोकतांत्रिक राजनीति ने जाति को एक सामूहिक पहचान और राजनीतिक गोलबंदी का आधार बना दिया, जिसने पारंपरिक अधिकारों के ऊपर संख्यात्मक शक्ति के महत्व को बढ़ाया। इससे निम्न व पिछड़ी जातियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिलना शुरू हुआ, जिसने ग्रामीण सत्ता के समीकरणों को बदलना प्रारंभ किया।

इस ऐतिहासिक संक्रमण का एक महत्वपूर्ण पहलू 'संस्कृतिकरण' और 'धर्मनिरपेक्षीकरण' की प्रक्रियाएँ थीं। निम्न जातियों द्वारा उच्च जातीय प्रथाओं का अनुकरण (संस्कृतिकरण) सामाजिक गतिशीलता का एक पारंपरिक मार्ग बना (Srinivas, 1966), जबकि शिक्षा, शहरीकरण और आधुनिक पेशों ने जाति से व्यवसाय के संबंध को ढीला किया परंतु, यह परिवर्तन रैखिक या पूर्ण नहीं था। पारंपरिक जातिगत पदानुक्रम के तत्व, विशेषकर अंतर्विवाह और सामाजिक भेदभाव, नए रूपों में बने रहे। स्वतंत्रता पूर्व की दृढ़ व्यवस्था और स्वतंत्रता पश्चात् की कानूनी चुनौतियों व राजनीतिक उभार के बीच के इस द्वंद्व ने ही ग्रामीण जातीय स्तरीकरण के आज के जटिल स्वरूप की नींव रखी।

समकालीन परिवर्तन के प्रमुख कारक

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के स्वरूप में समकालीन परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है, जिसके पीछे अंतःक्रियाशील कई प्रमुख कारक कार्यरत हैं। ये कारक पारंपरिक जाति–आधारित पदानुक्रम को चुनौती देते हुए नई

सामाजिक गतिशीलताओं को जन्म दे रहे हैं।

सर्वप्रमुख कारक आर्थिक सुधार एवं बाजारीकरण है। उदारीकरण के बाद के दौर में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कृषि–केंद्रित ढाँचा बदला है। गैर–कृषि रोजगार के अवसरों, विशेषकर निर्माण, परिवहन एवं सेवा क्षेत्रों में विस्तार ने जाति और पारंपरिक व्यवसाय के बीच के दृढ़ संबंध को ढीला किया है (Jodhka, 2015)। इससे निम्न जातियों को आजीविका के वैकल्पिक स्रोत मिले हैं, जिसने उनकी आर्थिक स्वायत्तता को बढ़ावा दिया है और पारंपरिक जजमानी प्रणाली के क्षरण में योगदान दिया है।

दूसरा महत्वपूर्ण कारक राजनीतिक जागरूकता एवं सशक्तीकरण है। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं, विशेष रूप से पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण ने ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों को राजनीतिक अधिकार और निर्णय–निर्माण में भागीदारी प्रदान की है। इसने ग्रामीण सत्ता के समीकरणों को पुनःपरिभाषित किया है, जहाँ जाति अब केवल प्रतिष्ठा का स्रोत न रहकर एक सामूहिक पहचान और राजनीतिक समूहबद्धता का आधार बन गई है (Yadav, 1999)। दलित एवं पिछड़ा वर्ग की राजनीति ने सामाजिक सम्मान के प्रश्न को केंद्र में ला दिया है।

तीसरा प्रमुख कारक शैक्षिक प्रसार एवं सूचना प्रौद्योगिकी का प्रभाव है। शिक्षा तक बढ़ती पहुँच ने व्यवसायिक अवसरों के द्वार खोले हैं और सामाजिक मानसिकता को बदला है। मोबाइल फोन एवं इंटरनेट ने सूचना के असमान वितरण को कम करके सामाजिक नेटवर्कों का विस्तार किया है, जिससे ग्रामीण युवा रोजगार एवं विचारों के लिए राष्ट्रीय और वैश्विक दुनिया से जुड़ रहे हैं (Jeffrey, 2010)। इससे जातिगत सीमाओं के भीतर रहने की मजबूरी कम हुई है।

चौथा कारक शहरीकरण एवं प्रवास की बढ़ती प्रवृत्ति है। ग्रामीण–शहरी प्रवास, चाहे अस्थायी हो या स्थायी, व्यक्तियों को जातिगत नियंत्रण के पारंपरिक ढाँचे से अलग करने का कार्य करता है। शहरी अनामिकता में व्यक्ति अपनी जातिगत पहचान को कुछ हद तक छिपा सकता है या उससे अलग होकर नए सामाजिक संबंध बना सकता है। यह प्रवासी अनुभव गाँव में लौटकर नए विचार एवं आकांक्षाएँ लाता है, जो स्थिर सामाजिक व्यवस्था में बदलाव का दबाव बनाता है (Desai & Dubey, 2012)।

अंत में, सामाजिक आंदोलन एवं कानूनी ढाँचे का योगदान उल्लेखनीय है। संवैधानिक प्रावधानों, जैसे अस्पृश्यता निवारण अधिनियम और एससी/एसटी (अत्याचार निवारण) अधिनियम ने स्पष्ट कानूनी सुरक्षा उपलब्ध कराई है, भले ही उनका क्रियान्वयन चुनौतीपूर्ण रहा हो। दलित एवं आदिवासी अधिकारों के लिए चलने वाले सामाजिक आंदोलनों ने सामूहिक चेतना जगाकर प्रतिरोध की संस्कृति को मजबूत किया है।

ग्रामीण क्षेत्रों में जातीय स्तरीकरण के नए स्वरूप

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के पारंपरिक स्वरूप, जो स्थैतिक पदानुक्रम और व्यवसाय–आधारित निर्धारण पर टिके थे, समकालीन परिवर्तनों के दबाव में नए एवं जटिल रूप ले रहे हैं। ये नए स्वरूप एक ओर जहाँ पुरानी संरचनाओं के विघटन का संकेत देते हैं, वहीं दूसरी ओर सूक्ष्म एवं पुनःनिर्मित असमानताओं के उभार को भी दर्शाते हैं।

एक प्रमुख नया स्वरूप है आर्थिक शक्ति द्वारा जातीय प्रतिष्ठा का पुनःनिर्माण। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विविधीकरण ने कृषि पर निर्भरता कम की है, जिससे पारंपरिक रूप से निचली मानी जाने वाली कुछ जातियों के सदस्य, विशेषकर ओबीसी वर्गों में से, व्यवसाय, ठेकेदारी, परिवहन और छोटे उद्यमों के माध्यम से आर्थिक रूप से सशक्त हुए हैं (Jodhka, 2015)। इस आर्थिक संपन्नता ने सामाजिक प्रतिष्ठा में बदलाव के दावों को जन्म दिया है। हालाँकि, यह प्रतिष्ठा अक्सर पारंपरिक रीति–रिवाजों (जैसे विवाह संबंध) में स्वीकृति न मिलने के कारण संघर्ष का कारण बनती है, जिससे एक विभाजित स्तरीकरण उत्पन्न होता है एक ओर आर्थिक स्थिति का नया पदानुक्रम और दूसरी ओर सामाजिक–सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का पुराना।

दूसरा महत्वपूर्ण स्वरूप राजनीतिक सशक्तिकरण का स्तरीकरण पर प्रभाव है। आरक्षण एवं लोकतांत्रिक राजनीति ने पारंपरिक रूप से वंचित जातियों को महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों तक पहुँच प्रदान की है। ग्राम पंचायतों में प्रतिनिधित्व ने स्थानीय सत्ता के समीकरण बदले हैं (Chandra, 2016)। इसने सार्वजनिक संसाधनों तक पहुँच, निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया और सार्वजनिक अंतरिक्ष (जैसे चौपाल, मंदिर) पर दावेदारी में नए प्रकार के संघर्ष एवं गठजोड़ पैदा किए हैं। सत्ता का यह पुनर्वितरण जातिगत पहचान को और अधिक प्रबल बनाता है, परंतु साथ ही जाति के भीतर उप–जातियों के बीच नए प्रतिस्पर्धी पदानुक्रम भी रचता है।

तीसरा, सामाजिक संबंधों में औपचारिकता एवं संविदात्मकता का बढ़ना नए स्तरीकरण का आधार बन रहा है। पारंपरिक जजमानी व्यवस्था (पारस्परिक सेवा–पुरस्कार संबंध) का तेजी से ह्रास हुआ है और उसका स्थान मौद्रिक एवं संविदात्मक संबंधों ने ले लिया है (Shah, 2018)। इससे श्रमिक वर्ग के लिए एक निश्चित स्वायत्तता तो मिली है, किंतु सामाजिक सुरक्षा के पारंपरिक ढाँचे भी टूटे हैं। अब शोषण का स्वरूप आर्थिक एवं अनौपचारिक क्षेत्र के श्रम बाजार के माध्यम से अधिक सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है।

अंततः, शहरीकरण एवं डिजिटल संपर्क के प्रभाव से एक प्रतीकात्मक स्तरीकरण भी उभरा है। शहरों से लौटे युवा या डिजिटल मीडिया के संपर्क में आए लोग जातिगत पहचान के प्रति नए दृष्टिकोण अपना रहे हैं। यह एक विरोधाभासी प्रवृत्ति है। कहीं यह पहचान को प्रबल कर रही है (सामाजिक मीडिया समूहों के माध्यम से), तो कहीं उसकी उपेक्षा भी (व्यक्तिगत उपलब्धि के आधार पर पहचान)। इससे ग्रामीण समाज में पीढ़ीगत विभाजन के साथ–साथ जातीय चेतना के नए रूप भी सामने आ रहे हैं।

सामाजिक गतिशीलताः अवसर, बाधाएँ और प्रतिमान

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के बदलते स्वरूप ने सामाजिक गतिशीलता के नए अवसर उत्पन्न किए हैं, साथ ही पारंपरिक बाधाओं को भी पुनःपरिभाषित किया है। सामाजिक गतिशीलता से तात्पर्य व्यक्तियों या समूहों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन से है, जो अधिकांशतः आर्थिक, शैक्षिक और व्यावसायिक उन्नति के माध्यम से प्रकट होता है। समकालीन ग्रामीण परिदृश्य में यह गतिशीलता एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया के रूप में उभरी है।

अवसरों के संदर्भ में, आर्थिक उदारीकरण, शहरीकरण और प्रवासन ने पारंपरिक व्यवसाय–आधारित पदानुक्रम को कमजोर किया है (Jodhka, 2015)। नगरीय अर्थव्यवस्थाओं में रोजगार ने जाति से अलग एक नई पहचान का निर्माण किया है, जहाँ कौशल और उत्पादकता अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। शिक्षा का विस्तार, विशेषकर उच्च शिक्षा तक पहुँच, ने पिछड़े वर्गों और दलित समुदायों के युवाओं के लिए स्थिति परिवर्तन का एक प्रमुख मार्ग खोला है (Desai & Dubey, 2012)। राजनीतिक सशक्तिकरण, विशेष रूप से स्थानीय स्वशासन (पंचायती राज) में आरक्षण के माध्यम से, ने ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों को निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी और प्रतिष्ठा प्रदान की है, जो सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण आधार है।

हालाँकि, गतिशीलता की राह में गहरी और स्थायी बाधाएँ अब भी विद्यमान हैं। सामाजिक पूँजी और नेटवर्क अभी भी जातिगत सीमाओं में बँधे हुए हैं, जिससे संसाधनों तक पहुँच असमान बनी हुई है (Thorat & Neuman, 2012)। शैक्षिक अवसरों की गुणवत्ता में भारी असमानता है; ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी स्कूल अक्सर खराब बुनियादी ढाँचे और शिक्षण स्तर से जूझते हैं, जिससे निचली जातियों के विद्यार्थी प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रतिस्पर्धा करने को मजबूर हैं। सूक्ष्म सामाजिक बहिष्कार और 'छुआछूत' के अवशेष, जैसे कि सामुदायिक कार्यक्रमों में भेदभाव या अंतर्जातीय विवाह का विरोध, सामाजिक प्रतिष्ठा में बदलाव को मंद कर देते हैं (Shah et al., 2018)। आर्थिक गतिशीलता भी अक्सर सामाजिक स्वीकृति में तुलनात्मक रूप से परिवर्तन नहीं ला पाती, एक ऐसी स्थिति जिसे 'अपूर्ण गतिशीलता' कहा जा सकता है।

इन परिस्थितियों में, ग्रामीण भारत में सामाजिक गतिशीलता के तीन प्रमुख प्रतिमान उभर रहे हैं। प्रथम, व्यक्तिगत उपलब्धि–आधारित गतिशीलता का प्रतिमान है, जो शिक्षा और निजी रोजगार द्वारा संचालित है, परंतु यह

अक्सर समुदाय से व्यक्ति के पृथक्करण को बढ़ावा देता है। द्वितीय, सामूहिक गतिशीलता का प्रतिमान है, जिसमें पूरा जाति समूह राजनीतिक एकजुटता और आरक्षण जैसे सामूहिक अधिकारों के दावों के माध्यम से ऊपर उठने का प्रयास करता है (Kumar, 2016)। तृतीय, परिवर्तनशील पारंपरिकता का एक जटिल प्रतिमान दृष्टिगोचर होता है, जहाँ व्यक्ति आर्थिक रूप से आगे बढ़ते हैं किंतु सामाजिक–सांस्कृतिक प्रथाओं और पहचानों को बनाए रखते हुए, जिससे गतिशीलता एक रेखीय न होकर चक्रीय प्रक्रिया बन जाती है। निष्कर्षतः, समकालीन ग्रामीण भारत में सामाजिक गतिशीलता अवसरों और बाधाओं के एक साथ उपस्थित रहने वाले द्वंद्वात्मक क्षेत्र में घटित हो रही है, जहाँ नए प्रतिमान पुरानी संरचनाओं के साथ सतत् वार्तालाप में हैं।

नीतिगत हस्तक्षेप और सामाजिक न्याय की चुनौतियाँ

ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण के बदलते स्वरूपों के प्रति प्रतिक्रिया में, स्वतंत्रता के बाद से ही नीतिगत हस्तक्षेपों की एक श्रृंखला लागू की गई है। इनका प्राथमिक उद्देश्य ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों, विशेषकर अनुसूचित जातियों (एस.सी.), अनुसूचित जनजातियों (एस.टी.) और पिछड़ा वर्ग (ओ.बी.सी.) के लिए सामाजिक न्याय और आर्थिक समावेशन सुनिश्चित करना रहा है। आरक्षण की नीति, जो शिक्षा, सार्वजनिक रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में कोटा प्रदान करती है, इन हस्तक्षेपों का केंद्रबिंदु रही है (Galanter, 1984)। इसके अतिरिक्त, भूमि सुधार कानून, छुआछूत उन्मूलन अधिनियम, और एस.सी./एस.टी. (अत्याचार निवारण) अधिनियम जैसे उपायों का उद्देश्य संरचनात्मक असमानताओं और सामाजिक भेदभाव को चुनौती देना था।

हालाँकि, ग्रामीण क्षेत्रों में इन नीतियों के कार्यान्वयन और प्रभावशीलता पर गंभीर चुनौतियाँ मौजूद हैं। सबसे पहले, आरक्षण के लाभों का वितरण असमान रहा है, जिसमें इन वर्गों के भीतर ही एक 'क्रीमी लेयर' को अधिकांश लाभ प्राप्त हुए हैं, जबकि सबसे वंचित तबके पीछे रह गए हैं (Deshpande, 2013)। दूसरा, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र की बढ़ती भूमिका के साथ, जहाँ आरक्षण लागू नहीं होता, वहाँ नीतिगत पहुँच सीमित हो जाती है। तीसरा, राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी, नौकरशाही की अकर्मण्यता और स्थानीय स्तर पर प्रभुत्वशाली जातियों का विरोध इन नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन में बाधक है (Shah, 2002)।

सामाजिक न्याय की समकालीन चुनौती केवल संवैधानिक सुरक्षा उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं है, बल्कि वास्तविक अवसरों की समानता सुनिश्चित करने में निहित है। शिक्षा की गुणवत्ता, स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच, और उत्पादक संसाधनों जैसे कि भूमि और ऋण पर नियंत्रण जैसे क्षेत्रों में गहरी असमानताएँ बनी हुई हैं। नीतिगत हस्तक्षेप अक्सर व्यक्तिगत या समूह–आधारित कोटा तक सीमित रह जाते हैं, जबकि जातीय उत्पीड़न और सामाजिक बहिष्कार की सामूहिक प्रकृति को संबोधित करने में अक्षम साबित होते हैं (Thorat & Newman, 2010)। उदाहरण के लिए, अंतरजातीय विवाह या सामुदायिक भोज जैसे सामाजिक सम्मिलन के प्रयासों को नीतिगत समर्थन प्रायः नहीं मिलता।

भूमंडलीकरण और बाजार–आधारित अर्थव्यवस्था के इस दौर में एक नई चुनौती उभरी है। एक ओर, नई आर्थिक गतिविधियों ने कुछ हद तक पारंपरिक पदानुक्रम को कमजोर किया है, वहीं दूसरी ओर, आर्थिक प्रतिस्पर्धा ने जातिगत पहचानों को और पुख्ता करने तथा सामाजिक तनावों को बढ़ाने का काम भी किया है (Jodhka, 2015)। ऐसे में, नीतियों को केवल प्रतिनिधित्व तक सीमित न रखकर, समग्र सामाजिक–आर्थिक सशक्तिकरण पर केंद्रित करने की आवश्यकता है। इसके लिए शिक्षा और कौशल विकास में निवेश, ग्रामीण गैर–कृषि रोजगार के अवसरों का विस्तार, और जातिगत भेदभाव के विरुद्ध सामाजिक अभियानों को मजबूती देना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि ग्रामीण भारत में सामाजिक न्याय का लक्ष्य अभी भी एक जटिल और बहुआयामी संघर्ष बना हुआ है, जिसके लिए नीतिगत दृष्टि में सूक्ष्मता और कार्यान्वयन में दृढ़ संकल्प की अपरिहार्य आवश्यकता है।

निष्कर्ष एवं भविष्य के शोध के निहितार्थ

इस समकालीन विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ग्रामीण भारत में जातीय स्तरीकरण का स्वरूप स्थिर एवं एकरूप न रहकर गतिशील एवं बहुआयामी हो गया है। ऐतिहासिक रूप से वर्णाश्रम पर आधारित कठोर पदानुक्रम,

आर्थिक उदारीकरण, राजनीतिक जागरूकता, शैक्षिक प्रसार और तकनीकी पहुँच जैसे बलों के प्रभाव में जटिल रूपांतरण से गुजरा है (Jodhka, 2015)। निष्कर्षतः, जाति अब केवल पारंपरिक व्यवसाय और शुद्धता–अशुद्धता के सिद्धांत से परिभाषित नहीं होती, बल्कि आर्थिक संसाधनों, राजनीतिक शक्ति और सांस्कृतिक पूँजी के नए अंर्तसंबंधों के माध्यम से पुनर्निर्मित हो रही है (Desai & Dubey, 2012)। सामाजिक गतिशीलता के रास्ते खुले हैं, परंतु वे सर्वसमान नहीं हैं; शैक्षिक उपलब्धियाँ और शहरी प्रवास निचली जातियों के लिए गतिशीलता के प्रमुख मार्ग बने हैं, किंतु सामाजिक भेदभाव एवं संरचनात्मक असमानताएँ इनमें गुणात्मक बाधा बनी हुई हैं (Thorat & Neuman, 2012)।

ग्रामीण क्षेत्रों में जातीय स्तरीकरण के नए स्वरूपों में जाति की 'अदृश्यता' का भ्रम पैदा हुआ है, जहाँ खुले आचरण के स्थान पर अव्यक्त पूर्वाग्रह एवं सामाजिक नेटवर्कों के माध्यम से भेदभाव कायम रहता है (Jeffrey, 2010)। दूसरी ओर, आरक्षण एवं अन्य नीतिगत हस्तक्षेपों ने एक नई मध्यवर्ती स्तर की जातियों की परत का निर्माण किया है, जिसने पारंपरिक द्विआधारी संरचना को चुनौती दी है, किंतु साथ ही अंतर–जातीय एवं अंतर–वर्गीय तनावों को भी जन्म दिया है (Kumar & Sharma, 2021)। सामाजिक न्याय की चुनौती अब केवल कानूनी अधिकारों तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक मान्यता एवं गरिमा के प्रश्न से गहराई से जुड़ गई है।

भविष्य के शोध के लिए कई महत्वपूर्ण क्षेत्र चिन्हित किए जा सकते हैं। प्रथम, डिजिटल प्रौद्योगिकी एवं सोशल मीडिया के प्रसार ने ग्रामीण सामाजिक संबंधों एवं जातीय पहचानों को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस पर गहन अध्ययन की आवश्यकता है। द्वितीय, जलवायु परिवर्तन एवं कृषि संकट के प्रभाव जातीय असमानताओं को कैसे गहरा रहे हैं, यह एक उभरता हुआ विषय है (Mosse, 2018)। तृतीय, महिलाओं की स्थिति पर जाति एवं लिंग के अंतर्विभाजन (इंटरसेक्शनैलिटी) के प्रभाव का ग्रामीण संदर्भ में विश्लेषण अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। चतुर्थ, गतिशीलता के नए प्रतिमानों जैसे उद्यमिता, कौशल विकास एवं गैर–कृषि रोजगार की सफलता में जातिगत बाधाओं का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. Béteille, A. (1991) Society and politics in India: Essays in a comparative perspective. *The Journal of Asian Studies*, 50(3), p. 679–681. https://doi.org/10.2307/2057585
2. Chandra, K. (2016) *Democratic dynasties: State, party, and family in contemporary Indian politics.* Cambridge University Press, New York.
3. Desai, S. & Dubey, A. (2012) Caste in 21st century India: Competing narratives. *Economic and Political Weekly*, 47(11), p. 40–49.
4. Deshpande, A. (2011) *The grammar of caste: Economic discrimination in contemporary India.* Oxford University Press, New Delhi.
5. Deshpande, A. (2013) *Affirmative action in India.* Oxford University Press, New Delhi..
6. Dirks, N. B. (2001) *Castes of mind: Colonialism and the making of modern India.* Princeton University Press, Princeton, NJ.
7. Dumont, L. (1970) *Homo hierarchicus: The caste system and its implications.* University of Chicago Press, Chicago.
8. Galanter, M. (1984) *Competing equalities: Law and the backward classes in India.* University of California Press, Berkeley.
9. Ghurye, G. S. (1932) *Caste and race in India. Kegan Paul,* Trench, Trubner & Co., London.
10. Gupta, D. (2000) *Interrogating caste: Understanding hierarchy and difference in Indian society.* Penguin Books India, New Delhi.

11. Jeffrey, C. (2001) 'A fist is stronger than five fingers': Caste and dominance in rural north India. *Transactions of the Institute of British Geographers,* 26(2), p. 217–236. https://doi.org/10.1111/1475-5661.00016

12. Jeffrey, C. (2010) *Timepass: Youth, class, and the politics of waiting in India.* Stanford University Press, Stanford, CA.

13. Jodhka, S. S. (2012) *Caste.* Oxford University Press, New Delhi.

14. Jodhka, S. S. (2015) *Caste in contemporary India.* Routledge, London.

15. Kumar, S. (2016) Post-Mandal politics in Bihar: Changing electoral patterns. *South Asian Journal of Socio-Political Studies,* 17(1), p. 23–35.

16. Kumar, S., & Sharma, R. (2021) Social mobility and electoral participation in rural India. *Contemporary South Asia,* 29(3), p. 345–362. https://doi.org/10.1080/09584935.2021.1925320

17. Marx, K. (1867) *Capital: A critique of political economy,* (Vol. 1) Verlag von Otto Meisner, Hamburg.

18. Mosse, D. (2018) Caste and development: Contemporary perspectives on a structure of discrimination and advantage. *World Development,* 110, p. 422–436. https://doi.org/10.1016/j.worlddev.2018.06.003

19. Shah, G. (2002) *Caste and democratic politics in India.* Permanent Black, New Delhi..

20. Shah, G. (2018) *Democracy, civil society and governance.* SAGE Publications India, New Delhi.

21. Shah, G.; Mander, H.; Thorat, S.; Deshpande, S. & Baviskar, A. (2006) *Untouchability in rural India.* SAGE Publications India, New Delhi.

22. Shah, G., Thorat, S., & Deshpande, S. (2018) Mobility among marginal communities: Evidence from a longitudinal study. *Economic and Political Weekly,* 53(47), p. 55–63.

23. Sharma, K. L. (1999) *Social stratification and mobility.* Rawat Publications, Jaipur.

24. Srinivas, M. N. (1955) *The social system of a Mysore village.* In M. Marriott (Ed.), Village India: Studies in the little community, University of Chicago Press, Chicago, p. 1-35.

25. Srinivas, M. N. (1957) Caste in modern India. *The Journal of Asian Studies,* 16(4), p. 529–548. https://doi.org/10.2307/2941637

26. Srinivas, M. N. (1966) *Social change in modern India.* University of California Press, Berkeley.

27. Thorat, S. & Newman, K. S. (2010) *Blocked by caste: Economic discrimination in modern India.* Oxford University Press, New Delhi.

28. Thorat, S., & Neuman, K. S. (2012) The legacy of social exclusion: A correspondence study of job discrimination in India. *Economic and Political Weekly,* 47(41), p. 39–45.

29. Weber, M. (1922) *Economy and society: An outline of interpretive sociology.* University of California Press, Berkeley.

30. Yadav, Y. (1999) Electoral politics in the time of change: India's third electoral system, 1989-99. *Economic and Political Weekly,* 34(34/35), p. 2393–2399.

——==00==——